

जीवन की गुणवत्ता और संचार की दुनिया

उषा शर्मा*

वास्तव में, मानव विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तियों के पास चयन की संभावनाएँ अधिक हों। वे अपनी क्षमताओं को अधिक से अधिक बढ़ा सकें और उपलब्ध अवसरों का अधिक से अधिक आनंद ले सकें। लेकिन मानव विकास प्रक्रिया होने के साथ-साथ स्वयं में एक उत्पाद भी है — प्रोसेस एंड प्रोडक्ट। मानव विकास को इस दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए कि वह व्यक्तियों को इतनी क्षमता दे सके कि वे स्वयं के जीवन को प्रभावित करने वाले कारकों को भी यथा आवश्यक बदल सकें। इस संदर्भ में आर्थिक वृद्धि भी महत्वपूर्ण है, लेकिन वह लक्ष्य नहीं है। यह भी समझना होगा कि किसी भी देश के मानव उसकी अमूल्य संपदा होते हैं और मानव विकास, मानवों के लिए उपलब्ध विकल्पों के दायरे को बढ़ाता है। संचार माध्यमों की दुनिया इस मानव जीवन को, इस जीवन के लक्ष्य को जिस तरह से प्रस्तुत करती है, उसमें वैविध्य है। लेकिन इतना भी वैविध्य नहीं है कि यह साफ़-साफ़ न देखा जा सके कि दरअसल 'मीडिया' क्या दिखा रही है, क्या स्थापित कर रही है, और आने वाले समय की कौन-सी तस्वीर प्रस्तुत कर रही है।

मनुष्य की गरिमा उसके मनुष्यत्व में निहित है और 'मनुष्यत्व' कोई बेहद साधारण परिघटना नहीं है, वह बेहद जटिल और उलझी-सी है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समय के साथ-साथ मनुष्य की 'आकांक्षाएँ' और 'तेवर' बदलते रहे हैं। बदलते समय और बदलते समय की 'हवाओं' में कोई एक मानदंड तय करना कठिन है कि मनुष्य का 'मनुष्यत्व' क्या है। हमारे अपने अनुभवों ने यह बताया भी और सिखाया भी कि 'हवाओं' के बहाव की दिशा में झुकने वाले पेड़ ही अपने अस्तित्व को बचा पाते हैं।' लेकिन इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि हम

हवा सरीखी जटिलताओं का डटकर सामना न करें और दाएँ-बाएँ होकर उनसे बचते रहें, सबके सामने झुकते रहें। वास्तव में, यह एक तरीके की रणनीति है, स्वयं के जीवन की 'स्वयं के होने' की रक्षा करने की। जीवन विसंगतियों और जिजीविशा की उधेड़बुन में जीवन की अपेक्षाओं, चाहतों और आनंद के बारे में कोई साफ़ एवं स्पष्ट समझ बना पाना बेहद कठिन जान पड़ता है। जीवन की गुणवत्ता का सवाल बेहतर जीवन की आकांक्षा और उसकी तलाश से जुड़ा हुआ जान पड़ता है। वास्तव में, यह कथन अनेक तरह के सवाल खड़ा करता है।

* प्रोफ़ेसर, प्रारंभिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली 110016

सबसे पहला तो यह कि स्वयं जीवन की अवधारणा क्या है? दूसरा यह कि बेहतर जीवन कैसे जिया जाए? तीसरा यह कि अपने जीवन की गुणवत्ता क्या दूसरों के जीवन से भी जुड़ी है? यदि हाँ, तो किस तरह? चौथा सवाल संभवतः सबसे कठिन होगा और वह यह कि जीवन को जीवंत कैसे बनाया जाए और उसके 'आनंद' एवं 'उत्सव' की पराकाष्ठा क्या होगी? इन सभी सवालों के जवाब हमें अपने आप मिल जाएँगे यदि हम अपने और अपने आस-पास के लोगों के जीवन में झाँकने की कोशिश करें। यह झाँकना केवल सतही नहीं होना चाहिए, बल्कि इसमें एक खास तरह की ईमानदारी और वस्तुनिष्ठता होनी चाहिए। ऐसा इसलिए कहा जा रहा है, क्योंकि हम अकसर अपने से जुड़ी हर बात को सही सिद्ध करने के लिए तर्क देने लगते हैं या फिर यह कि हमारी जो बात संभवतः दूसरों के लिए, दूसरों की नज़र में असंगत हो सकती है तो हम उसकी संगतता के लिए कोई न कोई ऐसा तर्क पेश करते हैं कि सामने वाला अँगुली न उठा सके और हम विजयी घोषित हो जाएँ। ऐसा नहीं है कि सिर्फ अपने को सही सिद्ध करने के लिए ऐसे तर्क दिए जाते हैं, बल्कि किसी प्रतिकूल परिणाम के लिए दूसरों को आरोपित करने, उन्हें गलत सिद्ध करने के लिए भी ऐसे तर्क दिए जाते हैं। इस तरह तर्क देकर अपनी बात को सही सिद्ध करना एक तरह की रक्षा युक्ति है जो मनोविज्ञान से जुड़ी है और मानसिक स्वास्थ्य के लिए इस तरह की रक्षा युक्ति मनुष्य को 'राहत' प्रदान करती है कि हमसे कुछ गलत नहीं हुआ या हमने कुछ गलत नहीं किया। ये रक्षा युक्तियाँ अवचेतन स्तर पर कार्य करती हैं

और हमारे चेतन स्तर पर इनका परिणाम, इनका मूर्त रूप सामने आता है। बहराल, हम कोशिश करते हैं उन सभी सवालों के जवाब जानने की जो जीवन की गुणवत्ता को समझने में मदद करेंगे।

पहला सवाल यह था कि जीवन की अवधारणा क्या है? जीवन का अर्थ जीव के जीने से है। यह जीव कोई भी हो सकता है—चूहा, मोर, हाथी, बिल्ली, मनुष्य! जीव कैसे रहते हैं? क्या करते हैं? और उनका आचरण कैसा है? वे अपना जीवनयापन कैसे करते हैं? ये सभी बातें जीवन की अवधारणा में शामिल हैं। जब कभी हम किसी वांछित चीज़ के लिए जगह-जगह ठोकें खाते हैं, बहुत परिश्रम करते हैं और उस पर भी कोई हमें अपमानित कर देता है तो हमारे मुँह से यही निकलता है कि यह भी कोई ज़िंदगी है, कुत्तों की तरह मारे-मारे फिर रहे हैं। हृदय की गहराइयों से निकले ये उद्गार स्वतः ही हृदय का हाल बयाँ कर देते हैं। मतलब यह है कि जिस तरह निरीह जीव कुत्ते के जीवन में दुत्कार और पेट भरने के लिए जगह-जगह भटकना नियति है, वैसे ही एक मनुष्य को कई बार इस परिस्थिति से गुज़रना पड़ता है। किसी जीव की नियति को जिस तरह से तय मान लेते हैं और फिर उसके अनुसार आचरण करते हैं, ठीक वैसे ही मनुष्य के जीवन की भी कुछ विशेषताएँ हैं। उसमें संयम है, विचार है, विवेक है, सामाजिकता है आदि, आदि। यह बात तब और बेहतर तरीके से समझ आएगी जब अकसर कहा-सुना जाने वाला वाक्य दोहराया जाए—यह भी कोई ज़िंदगी है! जानवरों की तरह जी रहे हैं। इसका मतलब है कि मनुष्य का जीवन पशुओं के जीवन से अलग होता है। इस संदर्भ में यह भी

समझ लेना चाहिए कि जीवन को जीने और जीवन को काटने में अंतर होता है। बस दिन काट रहे हैं। बची-खुची ज़िंदगी भी कट जाएगी। क्या करें, बस अब तो किसी तरह ये दिन भी कट जाएँ। जीवन में अब कुछ बचा ही नहीं है। यह जीना भी कोई जीना है। बस खाया, पिया और सो गए। मन के किसी कोने से निकली ये बातें साफ़-साफ़ बताती हैं कि जीवन को जीना सकारात्मक रवैया है और जीवन को काटना नकारात्मक।

यह बात भी समझ में आती है कि केवल खाना, पीना और सोना जीवन नहीं है। अपने जीने के लिए जितना ज़रूरी हो, उतने संसाधन जुटा लेना, दूसरों के साथ समरसतापूर्वक जीना और दूसरों के लिए कुछ ऐसा करना कि उनका जीवन बेहतर बन सके, यही जीवन का सार तत्व है। रोटी, कपड़ा और मकान इन संसाधनों तक जीवन सीमित नहीं है। ये तो सिर्फ़ जीने का साधन मात्र हैं, लक्ष्य नहीं। लक्ष्य तो बहुत बड़ा है और वह है — मानव मात्र का कल्याण! यदि रोटी, कपड़ा और मकान या संसाधन ही ‘जीवन’ होते तो मज़दूरों और गरीबों का कोई ‘जीवन’ ही नहीं होता। जबकि हम देखते हैं वे भी दिनभर परिश्रम करके अपने ‘घर’ या ‘ठिकाने’ पर वापस लौटते हैं तो मिलजुल कर खाना बनाते हैं, गपियाते हैं, बच्चों के साथ हँसी-ठिठोली करते हैं और तीज-त्योहार का आनंद उठाते हैं। जितना है, उन्हीं सीमित संसाधनों में संतुष्ट होकर हर पल जीवन का आनंद उठाते हैं। दूसरी तरफ़ तमाम तरह के संसाधनों से भरपूर बंगलों में रहने वाले अनेक व्यक्ति उदासी, अवसाद, अकेलेपन से घिरे रहते हैं। सुबह से शाम तक मशीन

की तरह काम करने के बाद जब यह सोचते हैं कि यह सब भाग-दौड़ किसके लिए? क्योंकि उन्हें कोई सही-सही जवाब नहीं सूझता। अधिक-से-अधिक कमाने की, संचित करने की लालसा में वे असली जीवन भूल जाते हैं और जीवन की ढलती संध्या के समय उन्हें संज्ञान होता है कि यह वह जीवन नहीं है जिसे जिया जाता है या जिसे जिया जाना चाहिए, पता नहीं वे जीवन भर किन निरर्थक चीज़ों के पीछे भागते रहे। उन्होंने अपना जीवन ‘बेकार’ ही ‘गँवाया।’ जिनके लिए कमाते रहे, संसाधन जुटाते रहे — न तो वे काम आए और न ही वे उन संसाधनों को भोगने के योग्य रहे। जीवन की आपाधापी में साथियों का, अपनों का साथ भी छूटता गया और अब अकेले रह गए। कोई ऐसा नहीं है जिसके साथ अपनत्व या लगाव रहा हो। रिश्तों की आत्मीयता समाप्त हो गई। और तो और रिश्ते ही समाप्त हो गए। वे रिश्ते, जो किसी भी समाज का आधार होते हैं, समष्टि से व्यष्टि तक की यात्रा करते-करते स्वयं अपना अस्तित्व और अपने होने का अर्थ भी भूल बैठे। यह विडंबना हर उस मानव की है जो जीवन को कभी समझ ही नहीं पाया।

यही विडंबना दूसरे सवाल के जवाब की ओर संकेत करती है कि जीवन को ऐसे जिँ ज़िसे अपने साथ दूसरों का भी कल्याण हो और हम समाज को कुछ बेहतर, कुछ सार्थक दे पाएँ। जीवन की गुणवत्ता का आधार केवल वह सुख नहीं है जिसे संसाधनों के अंबार से खरीदा जा सके, जिसके लिए मूल्य चुकाया जा सके। यह तो भौतिक सुख है और भौतिक चीज़ें तो एक न एक समय नष्ट होती ही हैं। भौतिकता जीवन का एक पहलू है, उसकी आत्मा नहीं, उसका

सार तत्व नहीं। भौतिकवादी संस्कृति का भी विनाश होता ही है। वह भी आपको जीवन के सच्चे सुख को देने में असमर्थ है। यह भी सोचने वाली बात है कि सबके लिए सुख की परिभाषा अलग-अलग है। एक लंबे समय से बीमार रोगी के लिए निरोगी काया की प्राप्ति सबसे बड़ा सुख है, तो अभावग्रस्त जीवन जीने को मजबूर व्यक्ति के लिए ‘चूल्हे में जलती आग और उस पर सिकती दो वक्त की रोटियाँ’ हीं सुख है। कोई केवल प्याज़-रोटी या मिर्च, नमक से सनी रोटी की प्राप्ति को ही सुख मान लेता है तो कोई निजता से ऊपर उठकर समाज और देश के लिए ‘कुछ करने’ में जीवन का सुख समझता है। इस संदर्भ में यह कथन याद आता है कि ‘दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।’ यही जीवन का मूल मंत्र भी है अर्थात् कल्याण। कल्याण के दायरे में सभी शामिल हैं—आप, हम, हमारे अपने और हमारा समाज। कल्याण की भावना संसाधनों को जुटाने तक सीमित नहीं है, बल्कि यही मनुष्य जीवन को वास्तविक रूप प्रदान करता है।

कल्याण की भावना से ओत-प्रोत जीवन में तीसरे सवाल का जवाब निहित है। कल्पना कीजिए एक ऐसे समाज की जहाँ अधिकतर व्यक्ति जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं से वंचित हैं और दो वक्त की रोटी के जुगाड़ में कुछ ऐसा कर बैठने को मजबूर हैं जो किसी भी सूरत में जायज़ नहीं है, उचित नहीं है। रोटी के लिए छीना-झपटी और किसी की जान ले लेना — कहीं का न्याय नहीं लगता, लेकिन एक माँ या पिता, भाई या बहन के हृदय से पूछिए तो वह इसे वैध ही बताएगा, क्योंकि समाज में संसाधनों

का विभाजन समान नहीं है। किसी के पास ज़रूरत से ज़्यादा है तो किसी के पास ज़रूरत लायक भी नहीं। जीना तो सभी को है और जीने के लिए ‘रोटी’ चाहिए ही। यह असमान विभाजन या असमानता अशांति का वातावरण पैदा करती है, जिसके कारण सुविधासंपन्न व्यक्ति का भी ‘चैन’ समाप्त होता है, उसके हृदय में भी हलचल होती है और वह यह सोचने लगता है कि उससे क्या बुरा है कि किसी ज़रूरतमंद को ‘कुछ’ मिल जाए। समुद्र से अगर दो बूँदें कम भी हो जाएँगी तो समुद्र का कुछ बिगड़ने वाला नहीं है, उसकी संपन्नता यथावत रहेगी। यह कल्याण की भावना दूसरों के जीवन की गुणवत्ता को भी प्रश्रय देती है। चलते-चलते यह भी समझ लिया जाए कि दूसरों के जीवन की गुणवत्ता का आधार भी केवल भौतिक सुख नहीं है। दूसरों को भी सच्चे सुख यानी सत्य की खोज और प्राप्ति करनी होगी, तो सीधा-सा अर्थ यह है कि हमारे जीवन की गुणवत्ता दूसरों के जीवन की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। समाज की समरसता का यही नियम है और होना भी चाहिए!

सबसे कठिन सवाल यानी ‘जीवन को जीवंत कैसे बनाया जाए और उसके ‘आनंद’ एवं ‘उत्सव’ की पराकाष्ठा क्या होगी’ का जवाब हर एक को खोजना होगा। हम सभी में वैयक्तिक भिन्नताएँ होती हैं जिसके कारण यह खोज भी नितांत वैयक्तिक होगी। यह भिन्नता जीवन के हर पक्ष में विद्यमान है, चाहे फिर वह समाज-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हो, आर्थिक श्रेणी हो, पंथ हो, भाषा हो, भौगोलिक स्थितियाँ हों या फिर जीवन का लक्ष्य और जीवन

जीने का कारण। सभी को अपने हिस्से का 'सच' खोजना होगा। जीवन को जीवंत बनाने के लिए यह जरूरी होगा कि हम स्वयं जीवंत हों और जीवंत होने का अर्थ है — स्पंदनशील, संवेदशील होना। यही संवेदना और स्पंदन मानव को यश के शिखर पर ले जाता है। यह स्पंदन और संवेदना ही है जिसके कारण हम दूसरों के प्रति करुणा भाव से उद्बलित हो जाते हैं और कल्याण की भावना से ओत-प्रोत! इसे हम चेतना भी कह सकते हैं। संभवतः यही किसी भी समाज, सभ्यता और संस्कृति के जीवंत होने का मुख्य आधार है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि —

- जीवन की गुणवत्ता का संबंध संसाधनों के बेहतर प्रयोग द्वारा बेहतर तरीके से जीने से है।
- जीवन की गुणवत्ता के संदर्भ में मानव के अंतस् को भी केंद्र में रखना होगा।
- अंतस् का निर्माण अचेतन के जाग्रत होने पर होता है और यह अचेतन ही है जिससे हमारा व्यवहार निर्देशित होता है।
- जीवन की गुणवत्ता का आधार मानव की यही चेतना है, उसकी संवेदना है जिसके सहारे मनुष्य 'मनुष्यत्व' को प्राप्त करता है।

इस संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि गुणवत्ता की गुत्थी को तुलनात्मक दृष्टि से नहीं आँका जाना चाहिए। इससे हम दूसरों को संदर्भ बनाते हैं और स्वयं का संदर्भ कहीं पीछे छूट जाता है, जबकि आकलन का संदर्भ व्यक्ति स्वयं होना चाहिए। खुद से ही खुद को आँकना या स्वयं से स्वयं को तोलना! ऐसा करने का सबब यह भी है कि गुणवत्ता में सुधार

की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है। इससे बेहतर, उससे बेहतर — लेकिन सवाल उठता है किससे बेहतर? दुनिया में अरबों लोग हैं, किस-किससे बेहतर होने का प्रयास किया जाएगा? और पहले भी यह कहा जा चुका है कि जीवन में सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी मायने रखती है। हमारे जीवन का संदर्भ वही तो है। जीवन की गुणवत्ता को समझने और प्राप्त करने के लिए हमें अपनी संवेदनाओं को उत्कृष्ट बनाना होगा, उन्हें इस तरह तराशना होगा कि हम उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर सकें। इस प्रयास में संघर्ष की स्थिति तो आएगी ही, लेकिन सृजन भी उसी संघर्ष से होगा।

स्पष्ट है कि जीवन की गुणवत्ता से जुड़े समस्त आयाम स्वयं जीवन की अवधारणा में अंतर्निहित हैं। जीवन को समझने में बदलते समय के साथ जीवन की अवधारणा में भी बदलाव आया है। जिसके कारण जीवन की प्राथमिकताओं और जीवन से जुड़ी चुनौतियों में भी बदलाव आया है। जीवन की अवधारणा में समाज-कल्याण का पक्ष भी धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। किसी समुदाय का सदस्य होने के नाते जो ज़िम्मेदारियाँ बनती हैं, उनसे भी हम विमुख होते जा रहे हैं। संचार प्रौद्योगिकी ने 'मानव जीवन' में जो सेंध लगाई है, उससे समाज का कोई भी सदस्य अछूता नहीं है। हमें लगता है कि ज़्यादा सुविधाएँ, ज़्यादा संसाधन बेहतर जीवन के पर्याय हैं। लेकिन यह महज़ एक भ्रांति है। संचार प्रौद्योगिकी के विकास ने जीवन की अवधारणा को भी बदला है। जीवन की गुणवत्ता, जीवन-स्तर यानी स्टैंडर्ड ऑफ़ लीविंग से अलग है। आप और हम किस तरह रहते हैं,

यह मायने नहीं रखता, क्योंकि किसी के पास साधन होते हुए भी वे सादा जीवन बिता सकता है। उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत के लोग आमतौर पर कमीज़, धोती या लुंगी और चप्पल या सैंडल में नज़र आते हैं, जबकि उनके पास संसाधनों का अथाह भंडार हो सकता है। हम क्या खाते हैं, क्या पीते हैं, कैसे कपड़े पहनते हैं—यह हमारे भौगोलिक वातावरण पर भी निर्भर करता है। जहाँ गर्मी ही रहती हो वहाँ लोग आधी बाजू की सूती कमीज़ ही पहनना पसंद करेंगे, जबकि जहाँ ठंड पड़ती है, वहाँ लोग पूरी बाजू की और सिल्क या ऊनी कमीज़ पहनना पसंद करेंगे। तब सूती पहनने वाले की जीवन की गुणवत्ता सिल्क पहनने वाले की जीवन की गुणवत्ता से कमतर कैसे हो सकती है? ज़रा सोचिए। लेकिन संचार माध्यमों में, चाहे वह प्रिंट हो या नॉन प्रिंट यानी समाचार-पत्र, किताबें, इंटरनेट, टीवी आदि की दुनिया—जीवन की गुणवत्ता को अनेक बार इस तरह से प्रस्तुत किया जाता है कि वह केवल भौतिकता तक ही सिमट जाती है, जबकि चर्चा के पहले हिस्से में भौतिकता को जीवन की गुणवत्ता का एकमात्र आधार मानने से साफ़ इंकार किया गया है। आपकी-हमारी ज़िंदगी में सबसे ज्यादा जो संचार-माध्यम प्रभावित करते हैं, वे हैं — समाचार-पत्र और टेलीविज़न! तो अपनी बात यहीं से शुरू करते हैं। समाचार-पत्र में छपने वाले समाचार अकसर नकारात्मकता को ही पोषित करते हैं और अच्छी खबरों को किसी कोने में ही समेट दिया जाता है। कहाँ, क्या हंगामा हुआ, किसने किसको आहत किया, किसने किसको चोट पहुँचाई, किसने किसकी अवमानना की, कौन अपराधी है आदि,

आदि से पूरा समाचार-पत्र अटा पड़ा रहता है। इतना पढ़ने के बाद लगता है कि जीवन में सब कुछ ‘गलत’ ही घट रहा है। आर्थिक मंदी की खबरें और सर्राफ़ा बाज़ार लुढ़का जैसी खबरों से एक आम आदमी की ज़िंदगी इस कदर प्रभावित होने लगती है कि रोज़ी-रोटी का सवाल उसके मन-मस्तिष्क पर हावी होने लगता है। फिर उसे जीवन की गुणवत्ता केवल इसी में दिखाई देने लगती है कि किसके पास कितने संसाधन हैं। समाचार-पत्र और टीवी पर आने वाले विज्ञापनों ने तो और भी कहर ढाया है। चेहरे को गोरा किए बिना जीवन में सफलता नहीं मिल सकती। वही एकमात्र आधार है—हमारी पहचान का, हमारे अस्तित्व का और हमारी कुछ भी पा लेने की महत्वाकांक्षा का! ‘काले को गोरा बना दे’ ऐसी क्रीमों का मार्किट जोरों पर है। यह विज्ञापन इस बात की खुलेआम घोषणा करते हैं कि शक्ति का एकमात्र आधार खूबसूरती है और खूबसूरत होने का अर्थ है गोरा होना। यही कारण है कि फ़ेयर मेन्स क्रीम में बकायदा यह कहा जाता है कि—‘मैं कहती थी न कि मर्द फ़ेयर ही अच्छे लगते हैं।’ अगर यह बात कोई सेलिब्रिटी कहे तो बस समझिए कि वह बात सोलह आने सत्य है! वैसे अनेक सेलिब्रिटी ऐसे विज्ञापन करते नज़र आते हैं, चाहे वे सिनेमा की दुनिया से जुड़े हों या खेलों की दुनिया से! टीवी की दुनिया में नज़र आने वाले ये विज्ञापन समाचार-पत्र की दुनिया में भी देखे जा सकते हैं। और भी ना जाने क्या-क्या! लगता है कि जीवन की गुणवत्ता केवल ‘दैहिक’ होकर रह गई है। जिसे देखो वही ‘खूबसूरत’ बनने की भेड़-चाल में शामिल है। इतना ही नहीं बच्चों और युवाओं का जो समय

स्वाध्याय में बीतना चाहिए, वह शीशे के सामने और इस उधेड़बुन में बीतता है कि कैसे गोरा हुआ जाए, ताकि सुंदर दिखा जाए जिससे आकर्षण का केंद्र बन सकें! ज़िंदगी का एकमात्र लक्ष्य ही बन जाता है।

वहीं दूसरी ओर कुछ विज्ञापन ऐसे भी हैं जो सीधे-सीधे ज़िंदगी की ज़रूरतों से जुड़ते हैं और अत्यंत प्रासंगिक हैं। बिना किसी लाग-लपेट के और बिना किसी 'दिखावे-तमाशे' के सीधी-सच्ची बात कहते हैं। इनमें से विशेष रूप से दो विज्ञापनों का उल्लेख करना चाहूँगी जिनमें घर में शौचालय बनवाने और उसका इस्तेमाल करने की बात कही गई है। एक विज्ञापन में नयी नवेली दुल्हन को घूँघट उठाने के लिए टोका जाता है, वहीं उसे शौच के लिए बाहर खुले में जाने के लिए कहा जाता है – “काकी घर में शौचालय कहाँ है?... घर में कहाँ, खुले में ही जाना पड़ेगा।... बहू फिर तो तुम घूँघट उठा ही दो ...घर में शौचालय बनवाओ और इस्तेमाल करो। जहाँ सोच, वहाँ शौचालय।” ‘प्रियंका भारती! ऐ, शारदा, विमल...इधर आओ। ये प्रियंका है।... ये क्या सिनेमा में आती है?...इससे भी ऊँचा काम किया है। अपनी इज़्जत और स्वच्छता की खातिर अपने लगन के दूसरे ही दिन ससुराल छोड़ने की हिम्मत दिखाई और अपने मरद से शौचालय बनवाने की माँग की। ...सुना उसने?... जब सोच और इरादा नेक हो तो सब सुनते हैं। आप भी अपने घर में शौचालय बनवाएँ और इस्तेमाल करें।’ दोनों ही विज्ञापन जीवन की गुणवत्ता के एक महत्वपूर्ण आयाम—बेहतर स्वास्थ्य की ओर संकेत करते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसे विज्ञापनों की संख्या नगण्य है।

वास्तव में, मानव विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तियों के पास चयन की संभावनाएँ अधिक हों। वे अपनी क्षमताओं को अधिक-से-अधिक बढ़ा सकें और उपलब्ध अवसरों का अधिक-से-अधिक आनंद ले सकें। लेकिन मानव विकास प्रक्रिया होने के साथ-साथ स्वयं में एक उत्पाद भी है—प्रोसेस एंड प्रोडक्ट। मानव विकास को इस दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए कि वह व्यक्तियों को इतनी क्षमता दे सके कि वे स्वयं के जीवन को प्रभावित करने वाले कारकों को भी यथा-आवश्यक बदल सकें। इस संदर्भ में आर्थिक वृद्धि भी महत्वपूर्ण है, लेकिन वह लक्ष्य नहीं है। यह भी समझना होगा कि किसी भी देश के मानव उसकी अमूल्य संपदा होते हैं और मानव विकास मानवों के लिए उपलब्ध विकल्पों के दायरे को बढ़ाता है। हालाँकि, कार्य मानव विकास को समृद्ध करता है, लेकिन कई बार वह उसे विनष्ट भी करता है। अनेक बार व्यक्तियों, बच्चों को मज़दूरी में जुटना पड़ता है, कई बार बंधुआ मज़दूर बनना पड़ता है और कई बार ऐसे भी कार्य करने पड़ते हैं जो मानव की गरिमा के विरुद्ध होते हैं। इस तरह कार्य और मानव विकास के बीच कोई यांत्रिक संबंध नहीं है।

मानव विकास की रिपोर्ट (2015) के अनुसार मानव विकास के मुख्यतः दो पक्ष हैं—मानव क्षमताओं को प्रत्यक्ष रूप से बढ़ाना और मानव विकास के लिए वातावरण का निर्माण करना। मानव क्षमताओं को बढ़ाने का संबंध—दीर्घ और स्वस्थ जीवन, ज्ञान, जीने का गरिमापूर्ण स्तर से है। दूसरी तरफ़, मानव विकास के लिए वातावरण का निर्माण करने का संबंध—राजनैतिक और सामुदायिक

जीवन में भागीदारिता, वातावरणीय निरंतरता या संवहनीयता, मानव सुरक्षा और अधिकार, समानता एवं सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने से है। यदि दोनों ही आयामों को गौर से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि एक गरिमापूर्ण जीवन जीने के लिए यह ज़रूरी है कि मनुष्य स्वस्थ रहे, उसमें तर्क, चिंतन, प्रश्न खड़े करने का साहस, ज्ञान का विकास किया जाए। इसका एक अर्थ यह भी है कि मानव का शारीरिक और मानसिक विकास ज़रूरी है ताकि वे अपने जीवन को बेहतर तरीके से जी सकें। सही और गलत में अंतर कर सकें, सही समय पर सही निर्णय ले सकें और ज्ञान का बेहतर इस्तेमाल कर सकें। मानव एक सामाजिक सदस्य है, इस रूप में उसकी अनेक नैतिक ज़िम्मेदारियाँ बनती हैं। उसको सुरक्षा और अधिकार भी दिए जाने चाहिए। समानता और सामाजिक न्याय गरिमापूर्ण जीवन के अहम पक्ष हैं। यदि एक ओर ज़िम्मेदारियाँ हैं तो दूसरी ओर अधिकार भी हैं। स्वायत्ता और प्रतिबद्धता साथ-साथ चलने वाली संकल्पनाएँ हैं। दोनों की उपस्थिति एक बेहतर जीवन के लिए ज़रूरी है।

अब एक नज़र अपने 'सोशल मीडिया' पर डालें तो ऐसे बहुत कम उदाहरण देखने को मिलते हैं जो मानव विकास के इन सभी आयामों और इनसे जुड़े पक्षों को संबोधित करते हैं। 'न जाने किस झोंक में रहते हैं और न जाने किस आग में झोंकना चाहते हैं?' 'जनहित में जारी' विज्ञापनों की दुनिया एक अलग दुनिया है जो एक अलग उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करती है...!

दरअसल संचार ने एक ओर सूचनाओं को एक 'क्लिक' में हाज़िर किया है, जगत की दूरियों को मिटाया है और एक 'ग्लोबल विलेज' का निर्माण किया है। वहीं दूसरी ओर इसने मानव के 'मानव' होने के अहसास को छीन लिया है और मानव को 'मशीन' में तब्दील कर दिया है। मानव ने जीवन को मशीन और मशीन को जीवन मान लिया है। यही कारण है कि जीवन की गुणवत्ता के मायने भी बदल गए हैं। सूचनाएँ हैं, लेकिन उनका विवेकपूर्ण प्रयोग नदारद है। संचार से फ़ासले कम हुए हैं, लेकिन 'कहने-सुनने' को कुछ बचा ही नहीं है। जीवन की गुणवत्ता को इसी पैमाने से मापा जाने लगा कि सुख-सुविधाओं और सूचनाओं का कितना 'अंबार' हमारे पास है, फिर उसकी ज़रूरत हो या न हो। परस्पर संवाद में भी कमी आई है और हमें लगता है कि हम प्रगतिशील (प्रोग्रेसिव) हो गए हैं। यह केवल एक छलावा है जिसकी इति केवल इसी में है कि हम 'स्वयं' तक ही सिमटकर रह गए हैं।

सूचना और संचार प्रौद्योगिकी ने शिक्षा की अवधारणा, उसके उद्देश्यों और उसके शिक्षाशास्त्र को भी प्रभावित किया है। जीवन की अवधारणा में भौतिकतावादी प्रवृत्तियाँ हावी होती जा रही हैं और शिक्षा का दायरा भी केवल अंकों तक ही सिमटकर रह गया है यानी 'अच्छे अंक-अच्छी ज़िंदगी' का फ़ार्मूला अत्यंत चिंताजनक है। विज्ञापन चाहे कोई भी हो, बच्चों का एकमात्र सरोकार उनकी कक्षा और परीक्षा में बेहतर निष्पादन से है, अव्वल आने से और वह भी 'हाथ में ट्रॉफी' आने से है। जबकि हम भूल

जाते हैं कि कोई पहले स्थान पर तभी आ सकता है जब कोई दूसरे स्थान पर आएगा। लेकिन इतना तो तय है कि इस पहले स्थान के लिए 'मारामारी' बहुत है, आखिर बच्चों की जिंदगी का सवाल जो है! संचार माध्यमों से प्रसारित होने वाले विज्ञापनों में यह तकलीफ़ रहती है कि 'उसकी कमीज़ मेरी कमीज़

से सफ़ेद कैसे?' जब मानव की क्षमताओं के विकास की ओर समुचित ध्यान दिया जाएगा तो उसका तर्क, उसके चिंतन का पैनापन खराब और निरर्थक सवालों को स्वतः ही दूर कर देगा।

तो आइए, एक बेहतर कल की शुरुआत आज से करें...!